इंसान के सृजन में भाषा

बच्चा जिन शब्दों और अनुभवों को लेकर कक्षा में आता है, अमूमन शिक्षक उसे नकार देता है। यह नकारना दरअसल अस्मिता की अस्वीकृति भी है। इस क्रम में बच्चे की आत्मीय दुनिया के वे पांच हज़ार शब्द और उनसे जुड़ी स्मृतियां भी खो जाती हैं जो उसके स्कूल में आने से पहले तक तर्क, शृंखला निर्माण और अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग थी।

प्रस्तुत है एनसीईआरटी द्वारा विद्या भवन सोसायटी में दिनांक 5 एवं 6 फरवरी 2009 को आयोजित 'समझ का माध्यम' विषय पर सम्मेलन में दिगंतर के रोहित धनकर का बीज वक्तव्य।

मित्रो

मैं भाषा को लेकर कुछ मूल बातें कहने की कोशिश करूंगा। मोटे तौर पर चार चीज़ों पर मैं थोड़ी–थोड़ी बात करूंगा। जिन चार चीज़ों पर मैं बात करना चाहता हूं वे इस प्रकार हैं –

1. इंसान, भाषा और सामुदायिक जीवन का आपसी संबंध।
2. भाषा और इंसानी ज्ञान।
3. भाषा के संदर्भ में विद्यालय में क्या भाषा नीति हो सकती है?
4. प्राथमिक विद्यालय में मुख्य रूप से भाषा कैसी हो?

इस वक्त ऐसा लग रहा है कि भाषा के ऊपर जो बहस है वो लगभग सारी की सारी अंग्रेज़ी को महत्त्व देने के संदर्भ में है। एक हिस्सा भाषा पर होने वाली बहस का यह है कि सब चीज़ों में अंग्रेज़ी का बोलबाला है और अंग्रेज़ी में पढ़ाई होनी चाहिए। लेकिन ये एकमात्र बहस नहीं है? दूसरा हिस्सा बहस का यह भी है कि सारी पढ़ाई बच्चे की अपनी भाषा में, उसकी घर की भाषा में ही होनी चाहिए। कहीं ऐसा लगता है कि ये दोनों चीज़ें याने कि अंग्रेज़ी और मातृभाषा का उपयोग यह एक बहुत अजीब सा मिश्रण है। मैं बहुत संस्थाओं में गया हूं, मूल्यांकन किया है, मिला हूं उनसे। वे यह कहते हैं कि हम आदिवासी बच्चों की पहचान को बनाए रखना चाहते हैं मगर वे उनकी सारी शिक्षा अंग्रेज़ी में करते हैं।

ऐसे स्कूलों में आदिवासी बच्चे जब अंग्रेज़ी में भाषण देते हैं तो उनकी फोटो खींची जाती है, पोस्टर्स में लगाते हैं और बहुत खुश होते हैं। विडंबना की बात यह है कि बच्चे न विचार रख रह होते हैं, न बोलने का अंदाज़ उनका आदिवासी है, न पढ़ाने का अंदाज़ आदिवासी है और न ही भाषा आदिवासी है। लेकिन उनकी पहचान और अंग्रेज़ी भाषा में पढ़ाई ये दोनों चीज़ें एक साथ होती हैं। इस मसले को थोड़ा सोचने के लिए, समझने के लिए इन चार चीज़ों पर मैं कुछ बातें बारी–बारी से आपसे करना चाहूंगा। आपको लगेगा कि मैं थोड़ा अमूर्त से शुरू कर रहा हूं।

पहले तो हमें यह देखना पड़ेगा कि हम इंसान को किस नज़र से देखते हैं? क्या उसमें भाषा या सामुदायिक जीवन का इंसान के गढ़ने में, उसके सृजन में, उसके उद्‌भव में कुछ हिस्सा है? इंसान को लोग किस नज़र से देखते हैं? जितने भी नज़रिए हों, उनको दो हिस्सों में बांटा जा सकता है पतित देवत्व या विकसित जंतु। मेरे दिमाग़ में जो आ रहा है वो सभ्य जंतु आ रहा है। तो दो नज़र से आप इंसान को शायद देख सकते हैं। बहुत सारे नज़रिए हो सकते हैं। दोनों नज़रियों में से जिस भी नज़रिए को आप मानते हैं उसमें भाषा का महत्त्व केन्द्रीय है। इसको हम देखेंगे कि क्यों और कैसे वह केन्द्रीय है?

इससे पहले मैं एक बात कहना चाहूंगा

कि यदि इंसान को आप सभ्य जंतु के रूप में देख रहे हैं, तो संस्कृत जानवर के रूप में देख रहे हैं। मैं जानबूझकर सुसंस्कृत नहीं बोल रहा हूं क्योंकि मुझे पता नहीं कि ''सु'' में कोई प्रशंसा या मूल्यांकन का हिस्सा भी है क्या? संस्कृति को आप एक ऐसी नज़र से भी देख सकते हैं जिसमें आप मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं। उसके मूल मानस तलों को पकड़ रहे हैं और वो अच्छी है, बुरी है, इस झगड़े को अलग रखते हैं। यदि सभ्य जानवर की दृष्टि से देखते हैं तो भाषा का महत्त्व कहीं ज़्यादा बढ़ जाता है पतित देवत्व के बजाय। आजकल अधिकतर लोग इंसान को इसी नज़रिए से देखते हैं। मैं तो निश्चित तौर पर इसी नज़रिए से देखता हूं कि हम लोग एक सभ्य जंतु ही हैं। और इसमें जंतु होने में मुझे कोई हीन भावना, आपत्ति या गाली जैसा कुछ नहीं लग रहा है। तो फिर एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि जो बाक़ी जानवर हैं उनसे आप इंसान को अलग कैसे करेंगे? इंसान को यदि आप उनसे अलग करना चाहें, उसकी शारीरिक संरचना के अलावा तो आपको उसकी मानस संरचना में जाना पड़ेगा। और जब आप उसकी मानस संरचना में जाएंगे तब आप ये देखेंगे कि उसको मूल रूप से जो अलग करनेवाले तत्त्व हैं, ऊपर–ऊपर हम कई बार बातचीत करने में ये कहते हैं कि उनके पास मूल्य होते हैं, समाज में रहते हैं, एक दूसरे से अच्छा व्यवहार करते हैं वगैरह। इस प्रकार की बहुत बातें करते हैं। लेकिन यदि इनकी गहराई में जाएंगे तो हमें दो–तीन चीज़ें नज़र आएंगी। मुझे ऐसा लगता है कि हमें नज़र आएगा कि इंसान आत्मचेता है, वह ख़ुद की छवि को देखता है। दूसरों की छवि या पेड़ या दूसरे जानवर कैसे दिख रहे हैं ये तो अन्य जानवरों को भी दिखते हैं, लेकिन इंसान अपने आप से हटकर, अपने शरीर में से निकल कर ख़ुद को देख सकता है। तो वह कर्त्ता व दृष्टा एक साथ है। दृष्टा भाव अपने लिए हो पाना यह इंसान की एक ख़ासियत है क्योंकि उसके पास कल्पना और स्मृति है। और अब ये दृष्टा भाव भी है उसके पास। तो वो जो नहीं है उसकी कल्पना कर पाना और वो "होना चाहना" यही उसकी ज़िंदगी का, उसके मानस का हिस्सा बन जाता है। अर्थात अपनी वर्तमान परिस्थिति का एक प्रकार का मूल्यांकन करने की क़ाबिलियत और उस मूल्यांकन से संतुष्टि, असंतुष्टि ज़ाहिर करने की क़ाबिलियत। और यदि असंतुष्ट है तो कोई जो दूसरी छवि को अपनी गढ़ रहा है, उसकी तरफ़ बढ़ने की योजना बनाने की काबिलियत इंसान की ख़ासियत है। आप पाएंगे कि इंसान अपने आपको लगातार इस दृष्टि से गढ़ता रहता है।

पिछले 500 सालों में इंसानों ने अपने आपको काफ़ी बदला है। जानवर बदलते हैं सिर्फ प्रकृति के अनुकूलन की दृष्टि से। इंसान बदलता है अपनी योजनाबद्ध तरीक़े से कल्पना करके। इसलिए हम अपने आपको लगातार बदलते रहते हैं। यह सामूहिक तौर पर भी और व्यक्तिगत तौर पर भी सही है। इस दृष्टि से आप कह सकते हैं इंसान स्वयंचेता है और एक हद तक स्वयंभू है। वह अपने आपको ख़ुद सृजित करता है। अब सवाल यह उठता है कि भाषा के माध्यम का इंसान के अपने आपको सृजित करने का क्या लेना देना हो सकता है। ये बात अमूमन मानी जाती है कि संस्कृति का पूरा उद्‌भव प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से अर्थ की सृजना कर पाने पर निर्भर है। जब प्रतीक बनाते हैं, अवधारणाएं बनाते हैं और उनके निर्णय में, अंदाज़ में, चुनाव में तर्क उपयोग करते हैं तो यह भाषा के बिना संभव नहीं है। बहुत सारी बातें ऐसी कही जाती हैं कि कुछ इस प्रकार की भी अवधारणा का फ़र्क ज्ञान हो सकता है। बिल्कुल हो सकता है कुछ चीज़ों के संदर्भ में हमारी आंतरिक अनुभूतियों के संदर्भ में भी कई बार हो सकता है। बहुत अनुभव भी हमारे वैसे हो सकते हैं। लेकिन जिस मानवीय ज्ञान के तहत हम अपने समाज के ज्ञान का विश्लेषण करते हैं ये वाला हिस्सा इस प्रकार की अवधारणा, फ़र्क ज्ञान से हो पाएगा। इसकी संभावना कम से कम मुझे नहीं लगती। अवधारणा में चीज़ों को संचालित करने के लिए मुझे भाषा बिना सारी चीज़ के विकास की संभावना नहीं लगती।

एक कदम आगे चलें तो आप पाएंगे कि हम बहुत कहते हैं कि भाषा संप्रेषण का माध्यम है। इसको हमें थोड़ा खोलना पडेगा। जब आप संप्रेषित करते हैं तो किसी दूसरे को संप्रेषित करते है। तो आप और आपके अलावा कोई और है जो आपको

एक सामुदायिक जीवन या साथ–साथ ज़िंदगी जीने का और जीवन के अनुभवों के आदान–प्रदान की तरफ़ ले जाता है। तो फिर एक ऐसा जीवन जिसमें आपके अनुभवों की साझेदारी है। उनमें जब आप संप्रेषित करने की कोशिश करते हैं तो उसमें भाषा उद्‌भूत होती है। यहां संप्रेषण का अर्थ थोड़ा बदल गया है। कई बार ऐसा लगता है कि संप्रेषण यानी मेरे पास कुछ है और वह मैं ज्यों का ज्यों दूसरे तक पहुंचा देता हूं। यहां संप्रेषण अर्थ का कांस्टिट्यूटिव हिस्सा है। संप्रेषण में ही अर्थ बनता है। संप्रेषण की प्रक्रिया में ही अर्थ का निर्माण होता है। अर्थ के निर्माण में ही इंसान का निर्माण होता है। तो कहीं ऐसा लगता है कि सामुदायिक जीवन, भाषा और स्वयं की सृजना करना ये बहुत गहरे तौर पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

इस बात पर मैंने इतना सारा जो समय लगाया है यह इसलिए कि अब हम यहां आ सके कि जब बच्चा अपने आपको इस नज़र से सृजित करना शुरू करता है उसमें आत्मचेतना का उद्‌भव होता है। जब वह अपने अनुभवों को भाषा के माध्यम से संजोकर उनको अर्थवान बनाने लगता है तब वह किस भाषा में ये सारी प्रक्रिया कर रहा होगा? साफ़ बात है कि वह अपने घर की भाषा में या मातृभाषा में करता है। मैं इन शब्दावली पर नहीं जाना चाहता अभी। लेकिन वो निश्चित रूप से अपने घर की भाषा में करता है। इसका मतलब यह हुआ कि हम इंसान लोग जब अपने गठन की कोशिश करते हैं, अपनी सृजना की कोशिश करते हैं तो वो मूलतः उनकी अपनी घर की भाषा में आरंभ होती है। हमारी परवरिश में, हमारे पूरे जीवन में केन्द्रक जो है वो आरम्भिक सृजन रहता है। उसके चारों ओर हम बहुत सारी चीज़ बुनते हैं, उसके चारों ओर हम बहुत सारा सीखते हैं। उसके चारों और हम बहुत सारे ज्ञान का निर्माण करते हैं। लेकिन हमारे केन्द्र में हमेशा वो ही चीज़ रहती है। इसीलिए इस बात को समझ सकते हैं कि हम जब परेशानी में या ग़ुस्से में होते हैं या भावनात्मक होते हैं तो अचानक हमारे जो अंतरंग शब्द होते हैं वो अमूमन अपनी उस पहली भाषा में आते हैं जहां हमने पहली बार उन चीज़ों का सामना किया। इस दृष्टि से देखें तो उसकी घर की भाषा उसकी सिर्फ़ दुनिया से व्यवहार करने की भाषा नहीं है। उसकी अस्मिता की भाषा, उसके "मैं" की भावना की भाषा है। "वो", "उसने", "हम" सबके व्यक्तित्व का एक लाज़मी हिस्सा है। उसको आप काटकर अलग नहीं कर पाएंगे। हालांकि उसको दबा सकते हैं। और जब दबाते हैं तो फिर उसके साथ क्या–क्या दबता होगा उसकी बात हम थोड़ा रुक कर करेंगे।

थोड़ी सी बात मैं करना चाहूंगा ''भाषा और इंसानी ज्ञान की''। एक हिस्से तक तो मैंने बात की है अभी इंसानी ज्ञान की अवधारणाओं को तर्क में पिरोकर उपयोग कर पाना, उनका निष्कर्ष में उपयोग कर पाना, अनुमान में उपयोग कर पाना और चुनावों में उपयोग कर पाना। यह सब हम भाषा के माध्यम से ही कर सकते हैं। मानवीय ज्ञान को आप देखें तो उसका बहुत सारा हिस्सा भाषा के आधार पर चलता है। यदि आप ज्ञान की परिभाषा को थोड़ा विकसित भी करें सिर्फ़ उनमें वक्तव्यों में जो ज्ञान दिया जा सकता है उसी को नहीं लें क्योंकि इस पर आजकल काफ़ी विचार हो रहा है। इस दृष्टि से यदि आप कौशल को भी देखें, दक्षताओं को भी देखें तो उसमें भी कम से कम अनुमान शामिल होता है। जहां भी आप अवधारणात्मक अनुमान की बात करते हैं, उस वक़्त भाषा की भूमिका या तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होती है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि हर जगह प्रत्यक्ष भूमिका होती है। बहुत सारी जगह भाषा की परोक्ष भूमिका हो सकती है।

तो कहीं ऐसा लगता है कि इंसानी ज्ञान की संभावना, इंसान होने की संभावना भाषा के बिना नहीं है। इंसानी ज्ञान के सृजन की, संप्रेषण की, दूसरी पीढ़ियों तक पहुंचाने की और संरक्षण की संभावना भी भाषा के बिना नहीं है। ज्ञान की प्रक्रिया में भी वो ही सारी चीज़ें हैं जो अस्मिता के गठन में हैं, वे जुड़ी हुई हैं। कम से कम मेरे विचार में तो ऐसा नहीं है कि ज्ञान कोई बौद्धिक विलास लिए इंसान उत्पन्न करता है। ये उसकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में आनेवाली कठिनाइयां और उनसे संघर्ष में जिस प्रकार की मानसिक संरचनाएं गढ़ता है, उनको व्यवस्थित करता है उसमें से ज्ञान धीरे–धीरे बनता चला जाता है। हालांकि फिर हम जैसे कुछ लोग पैदा हो जाते हैं जो उसके

किसी एक डिसीप्लीन को लेकर उसको बिना ज़िन्दगी से जोड़े बहुत दूर तक ले जाते हैं। लेकिन उस वक़्त की बात के लिए तो तर्क करने की ज़रूरत नहीं है वो तो भाषा के बिना संभव ही नहीं है। लेकिन मैं जो अभी तक तर्क कर रहा था कि किसी भी स्तर पर इंसानी ज्ञान में यदि अनुमान शामिल हैं, चयन किन्हीं आधारों पर शामिल है, अमूर्त अवधारणाएं शामिल हैं तो वह बिना भाषा के संभव नहीं है। तो अभी तक हमने मोटे तौर पर दो बातें की हैं–

1. इंसान के सृजन में भाषा और सामुदायिक जीवन का बहुत मूल हिस्सा है।

2. इंसानी ज्ञान में भी भाषा और सामुदायिक जीवन मूल रूप से उसके केन्द्र में रहते हैं।

यदि ये दोनों स्थापनाएं ठीक हैं तो अब हम तीसरी बात पर आ आएं। हो सकता है कि इनसे आपकी असहमति हो। हो सकता है कि लोग कहें कि ये ठीक नहीं है तो शायद तर्क दूसरे ढंग से चले। लेकिन यदि ये दोनों चीज़ें ठीक हैं तो फिर हमें ये देखने की ज़रूरत है कि बच्चा जब स्कूल में आता है तो उसकी ज्ञान की दुनिया का आरम्भ पूर्व में ही हो चुका है। लेकिन औपचारिक आरंभ ज्ञान की दुनिया में किस नज़र से और किस भाषा में होना चाहिए।

मुझे लगता है कि हम अपने स्कूलों की चीज़ को भी नज़र में रखें तो उससे थोड़ी मदद मिलेंगी। अभी हम लोगों के कुछ ताज़े अनुभव हैं। दरअसल हम एक आदिवासी क्षेत्र में बच्चों के साथ काम कर रहे हैं। उनकी भाषा के संदर्भ में शिक्षकों और लोगों के मन में ये आम मान्यता है कि उनकी भाषा ज्ञान प्राप्ति और सोचने में समर्थ ही नहीं है। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। एक बार उदयपुर के ही सेमीनार में एक शोधार्थी ने यह बात कही थी कि आदिवासी बच्चों के सीखने में, लिखना–पढ़ना सीखने में बहुत ज़्यादा दिक़्क़त इसलिए होती है कि आदिवासी लोग परिकल्पना के स्तर पर नहीं सोच सकते, ये बड़ी अजीब–सी स्थापना लगती है। हालांकि परिकल्पना के स्तर पर सोच पाना इंसान की मूल प्रक्रियाओं में से है। लेकिन वो शोधकर्त्ती किसी कारण से इस नतीजे पर पहुंची होगी। मैं कहने की कोशिश यह कर रहा हूं कि ख़ासकर आदिवासी बच्चों के लिए और ग्रामीण भाषाओं के लिए इस प्रकार के दुराग्रह या इस प्रकार की भावनाएं सिर्फ़ आम लोगों तक सीमित नहीं है। शोधार्थियों में भी इस प्रकार की भावनाएं खूब गहराई से जड़ जमाए हो सकती हैं।

इसी प्रकार से बच्चों के सीखने की सामर्थ्य का सवाल जो है वो यह मानकर चलते हैं कि ये बच्चे उतना नहीं सीख सकते जितना कि अन्य समुदायों से आनेवाले बच्चे सीख सकते हैं। अभी ज़िक्र किया कि बच्चे को स्कूल की कक्षा में जब शिक्षक खड़ा करता है तो वह अपने सभी पांच हज़ार शब्द भूल जाता है। एक तो मैं थोड़ा–सा आपको याद दिलाना चाहूंगा कि पांच हज़ार शब्द और उन पांच हज़ार शब्दों का संयोजन और उस संयोजन में हज़ारों तरीके! तो यह भाषा के मामले में बहुत ही समृद्ध चीज़ है और वह सारी की सारी भूल जाता है। यह करिश्मा शिक्षक कैसे कर पाता है? इस करिश्मे के पीछे एक जो चीज़ हम करते हैं वो उसकी भाषा को नकारकर करते हैं। उसको यह पता है कि मुझे बोलना तो है। उसको यह पता है कि मेरे पास बोलने को कुछ है भी। लेकिन उसको यह पता है कि उसको उस भाषा में नहीं बोलना है जिसमें वह सोच सकता है अपनी बात कह सकता है। उसको एक ऐसी भाषा में बोलना है जो शिक्षक के द्वारा वहां पर निर्धारित है। उस भाषा में बोलना जिसमें अभी तक न सोचा है न बोला है। इसलिए एक चुप्पी की संस्कृति वहां से शुरू होती है।

यह जो भाषा का नकारना है ऐसा लगता है कि कम से कम चार चीज़ों का नकारना इसमें शामिल है। इसमें और भी कई चीज़ें होंगी लेकिन चार चीज़ें मुझे बहुत स्पष्ट लग रही हैं। एक तो क्योंकि जब हम उसकी मातृभाषा को नकारते हैं तो हमने पहले बात की थी कि बच्चा अपने आपको सृजित ही मातृभाषा में करता है, इसलिए उसकी पूरी अस्मिता ही मातृभाषा में सृजित है। तो पहली बात तो यह है कि आप एक तरह से उसकी अस्मिता को ही नकार रहे हैं। दूसरी, जो महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि उसके ज्ञान प्राप्त करने का उपकरण, यदि ज्ञान को हम थोड़ा इस नज़र से देखें जिस नजर

से एनसीएफ–2005 देखता है। वहां एक बात यह कही गई है कि मानवीय ज्ञान मानव के अपने अनुभवों को भाषा के माध्यम से संजोकर अर्थवान बनाने की प्रक्रिया है। तो जो अनुभवों को आपने रेखांकित कर लिया और वह आगे और होनेवाले अनुभवों की व्याख्या करने में काम आएगा। इस तरह से प्रक्रियात्मक अनुभव ही ज्ञान है। दरअसल आप भाषा के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं और भाषा भी इस माध्यम से आगे बढ़ती है, विकसित होती है। तो ज्ञान को बनाने के प्रमुख उपकरणों में भाषा है। जब आप बच्चे की भाषा को स्कूल में नकारते हैं तो उसके ज्ञान को बनाने का जो उपकरण है, आपने उसके पूरे अवधारणात्मक (conceptual equipment) को, सारे औज़ारों को एक साथ खिड़की से बाहर फेंक दिया। अब आप यह कह रहे हैं कि आप अन्दर से खाली हो जाइए, आप अपने औज़ारों को खिड़की के बाहर फेंक दीजिए और फिर आप कक्षा में आइए और हम जो सिखाना चाहते हैं वही सीखिए। सीखने के शिक्षणशास्त्र (पेडागॉजी) में इस प्रक्रिया को समझने की कोशिश करते हैं। उसमें भी अमूमन यही बात दोहराई होती है। उसमें भी यह कहा जाता है कि सीखना चीज़ों को आपस में जोड़ने की प्रक्रिया है। जो पहले से मेरा अपना संहिताबद्ध ज्ञान है, जो नया अनुभव हो रहा है उसको मैं उससे जोड़ पाऊं, उसका उससे संबंध जोड़ पाना ही सीखने की प्रक्रिया है। यदि यह सीखने की प्रक्रिया है तो हम पहले ही कह चुके हैं कि यह भाषा के माध्यम से हो रही है। इन सारी चीज़ों में आप पाएंगे कि यह दोहराव होगा। अस्मिता, ज्ञान, सीखना उसकी जीवनदृष्टि, उसका पूरा का पूरा विश्व परिदृश्य भाषा के नकारने में सारी चीज़ें एक साथ नकारी जाती हैं। अब यह मसला सिर्फ़ ज्ञान का मसला नहीं है इसको एक कदम आप आगे ले जाकर देखेंगे तो सामाजिक समता का, सामाजिक न्याय का और उसकी अपनी स्वतंत्रता का मसला भी है। यदि आप इस प्रकार की शिक्षा की बात कर रहे हैं जो सबको बराबरी के अवसर दे और आप कुछ लोगों के सारे के सारे ज्ञान प्राप्त करने के, सीखने के उपकरण को नकारकर शिक्षा देना चाहते हैं, और कुछ लोगों के उपकरण को स्वीकार करके शिक्षा देना चाह रहे हैं तो आप समता की, समानता की बात तो नहीं कर रहे। इसमें सामजिक न्याय तो आप नहीं कर पाएंगे। यह तो कुछ–कुछ वैसी बात है जिसमें आप कहें कि दो लोगों को आपस में साथ मिलकर प्रतिस्पर्धा करनी है और एक के उपकरण ले लीजिए और दूसरे को सारे उपकरण के साथ उस प्रतिस्पर्धा में आने दीजिए। लोकतंत्र में सामाजिक न्याय और समता और स्वतंत्रता का मसला भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ज्ञान प्राप्त करने का और गढ़ने का है।

ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि हम क्या करें? क्या हम प्रत्येक बच्चे को उसकी अपनी भाषा में, स्थानीय भाषा में सारी चीज़ पढ़ाते रहें और उससे आगे नहीं जाएं? मैंने काफ़ी समय इस बात पर लगाया है कि स्थानीय भाषा कितनी महत्त्वपूर्ण है। इससे हम इस नतीज़े पर ज़रूर पहुंचते हैं कि आपको विद्यालय में उसकी भाषा को तहेदिल से और पूरे सम्मान से स्वीकार करना पड़ेगा। लेकिन भाषा उसके अलावा भी बहुत कुछ करती है। भाषा दुनिया को देखने के आपके दायरे को और दुनिया के लोगों से आपके सम्पर्क को सीमित भी करती है। तो आपने जहां पर स्थानीय भाषा में अपने आपको गढ़ा है, इस अस्मिता को और विस्तार देने के लिए ऐसी भाषाओं तक पहुंच भी आवश्यक है जो मानवीय समुदाय के ज़्यादा बड़े हिस्से तक पहुंच रही है। राजस्थान में आप कह सकते हैं हिन्दी एक ऐसी भाषा है। दुनिया के संदर्भ में अंग्रेज़ी या और भी भाषाएं होंगी। लेकिन भारत में अंग्रेज़ी को आप ऐसी भाषा कह सकते हैं जो ज्ञान तक पहुंचने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। सत्ता में भागीदारी के लिए भी यह भाषा महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आप देखते हैं तो उसकी अपनी भाषा के साथ–साथ हिन्दी यहां पर उत्तर भारत में ख़ासकर राजस्थान में और अंग्रेज़ी भाषा भारत में भी महत्त्वपूर्ण चीज़ है।

तो अब सवाल उठता है कि यह कैसे हो सकता है? कुछ ठोस बातें इस प्रकार हैं –

- हमें बच्चे की भाषा को स्वीकार करना पड़ेगा, आरंभ में माध्यम के रूप में भी और हर तरह से।
- हमें हिन्दी को खोलना

पड़ेगा। हिन्दी की जो रूढ़ छवि हमारे पास है एक खास प्रकार की संस्कृतनिष्ठ, शुद्ध और उच्चारणवाली भाषा से हटना पड़ेगा। और हिन्दी में स्थानीय भाषा को उच्चारण के रूप में, उसके शब्दों के रूप में, उसकी वाक्य संरचना के रूप में, उसके मुहावरे के प्रवाह को निर्बाध रूप से आने देना पड़ेगा। मुझे ऐसा लगता है कि इससे स्थानीय समुदायों को भी बल मिलेगा और हिन्दी को भी। अभी जो हिन्दी इतनी रूखी–सूखी और दुर्बल हो रही है उसका एक कारण शायद यह भी है कि उसमें बहुत सारे जीवन–रस को आने में बाधाएं अलग–अलग वक़्त पर पैदा की गई हैं।

♦ बच्चा पांचवीं कक्षा तक आते–आते हिन्दी में सहज हो जाए, कम से कम दूसरों से बातचीत कर सके जितना अपनी भाषा में करता है, इसकी कोशिश करनी पड़ेगी। आख़िर में एक बात मैं अंग्रेज़ी के बारे में कहना चाहूंगा। इसमें थोड़ी–सी ज्ञान आयोग से मेरी असहमति भी मैं ज़ाहिर करना चाहूंगा। पूरे सम्मान के साथ मुझे ऐसा लगता है कि ज्ञान आयोग ने जो अनुशंसा की है वो शैक्षणिक दृष्टि से महत्त्वहीन और प्रतिभागी अनुशंसा है।

यह पहली बात थोड़ी व्यापक स्तर पर हमको देखनी पड़ेगी कि शिक्षा को आप मानव और समाज के सृजन की प्रक्रिया का हिस्सा मानते हैं या आर्थिक, वैश्विक अर्थ व्यवस्था में संघर्ष का औजार। ज्ञान आयोग शिक्षा को वैश्विक अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष के औज़ार के रूप में देखता है। ज्ञान आयोग मानव और समाज के सृजनवाले हिस्से को बहुत कमतर करके आंकता है। और इस दृष्टि से मशीनीकृत शिक्षा हो रही है उसके तहत अंग्रेज़ी की बात करते हैं। यदि इस दृष्टि से भी अंग्रेज़ी की बात करते हैं तो क्या शिक्षाशास्त्रीय शोधों में इसकी अनुशंसा की जाती है?

दुनिया में बहुत सारे देश ऐसे हैं जहां अंग्रेज़ी भाषा बच्चे पांचवीं या छठी कक्षा में आकर पढ़ते हैं। फिर भी उनकी अंग्रेज़ी अन्य लोगों से किसी भी तरह से कम नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि अंग्रेज़ी को बिना तैयारी के शिक्षक के द्वारा पढ़ाना ठीक नहीं है। अंग्रेज़ी को पहली कक्षा से शुरू करने की बजाय पांचवीं या छठी कक्षा में एक व्यवस्थित शिक्षणशास्त्रीय तरीक़े से समझदार शिक्षकों के साथ शुरू करना कहीं बेहतर चीज़ है।

''समझ का माध्यम'' दिनांक 5 एवं 6 फरवरी, 2009 को विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर में आयोजित सेमीनार में रोहित धनकर द्वारा दिए गए वक्तव्य पर आधारित।